Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 1 | ISSN : 2582-0095

व्याकरण एवम् भाषाशास्त्रविमर्श

प्रवीन कुमार
शोधच्छात्र,
संस्कृत विभाग,
इ0वि0वि0, प्रयागराज

शोध आलेख सार – आचार्य पाणिनि ने इन्हीं पदजातियों में से नाम एवम् आख्यात को पद संज्ञा से अभिहित किया है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि आचार्य पाणिनि दो पद जातियों को स्वीकार किया यह भ्रमात्मक तथ्य है। आचार्य पाणिनि ने कहीं यह नहीं कहा है कि नाम और आख्यात की ही पद संज्ञा होती है और न यह भी कहा की उपसर्ग और निपात पद नहीं हैं। जो उन्होंने यह कहा कि सुप्तिङन्तं पदं। इसका अर्थ समझने में हम गलती करते हैं इस सूत्र का अर्थ है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात में जब सुप् प्रत्यय और तिङ् प्रत्यय लगते है तब पद संज्ञा से अभिहित होते हैं।

मुख्य शब्द– नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात।

रूपविज्ञान का अध्ययन प्राचीन काल में स्वतन्त्र रूप से नहीं होता था इसका आशय यह है कि उस समय भाषाशास्त्र की शाखा के रूप में अध्ययन नहीं किया जाता था। किन्तु इसका सूक्ष्म रूप हमें ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है।[1] जिसमें चार पदजातियों की कल्पना की गयी है – नाम, आख्यात् उपसर्ग और निपात।[2] सर्वप्रथम आचार्य यास्क ने प्रत्यक्षतः चार पदजातियों का उल्लेख किया।[3] वे इन चारों पदजातियों की व्याख्या अपने ग्रन्थ ''निरुक्त'' में किया है। आचार्य पाणिनि ने इन्हीं पदजातियों में से नाम एवम् आख्यात को पद संज्ञा से अभिहित किया है।[4] यहाँ यह समझना आवश्यक है कि आचार्य पाणिनि दो पद जातियों को स्वीकार किया यह भ्रमात्मक तथ्य है। आचार्य पाणिनि ने कहीं यह नहीं कहा है कि नाम और आख्यात की ही पद संज्ञा होती है और न यह भी कहा की उपसर्ग और निपात पद नहीं हैं। जो उन्होंने यह कहा कि सुप्तिङन्तं पदं। इसका अर्थ समझने में हम गलती करते हैं इस सूत्र का अर्थ है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात में जब सुप् प्रत्यय और तिङ् प्रत्यय लगते है तब पद संज्ञा से अभिहित होते हैं। सुप् प्रत्यय नाम, उपसर्ग और निपात में लगते हैं तथा तिङ् प्रत्यय आख्यात (धातु, Root) से लगते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य यास्क द्वारा निर्धारित चार पदजातियो ंको आचार्य पाणिनि ने ग्रहण किया। इन चारों पदजातियों में जब सुप्–तिङ् प्रत्यय लग जाते हैं तब दो प्रकार के पदों का निर्माण होता है– एक सुबन्त पद जिसे नाम पद या संज्ञा पद से जाना जाता है तथा दूसरा तिङन्त पद जो क्रिया पद के नाम से अभिहित होता है। यह एक सैद्धान्तिक पक्ष है।

रूपों या पदों का एक व्यावहारिक पक्ष भी होता है जिसका भाषाशास्त्र में स्वतन्त्र अध्ययन होने के कारण रूपविज्ञान का जन्म हुआ और रूपविज्ञान के अन्तर्गत किसी विशेष भाषा के पदों का जिन्हें व्याकरण स्वीकार करता है, उसका अध्ययन किया जाता है उसे रूपात्मक व्याकरण कहा जाता है। वह पदों की स्वीकार्यता तथा अस्वीकार्यता का निर्धारण करता है अर्थात् पदों या रूपों का निर्माण न ही व्याकरण करता है न ही कोई वैयाकरण। वैयाकरण उस टकसाल मशीन की तरह नहीं है कि जितनी आवश्यकता हो उतने शब्दों का निर्माण कर सके। वैयाकरण का कार्य मात्र शब्दों के उचित–अनुचित प्रयोग बताना है। जिन शब्दों का प्रयोक्ता या सामाजिक मान्यता दे देता है उन्हीं शब्दों का वैयाकरण पदयोग्य बनाने के लिए संस्कार करता है। तदन्तर भाषाशास्त्र में रूपात्मक अध्ययन किया जाता है।

पदों की ''स्वीकार्य उक्ति उसे कहते हैं जिसे कोई देशी प्रयोक्ता किसी विशिष्ट सन्दर्भ में प्रयुक्त करता है, और जिसे अन्य देशी प्रयोक्ता उसी भाषा से सम्बद्ध मान लेते हैं।''[5] इसका आशय यह है कि देशी प्रयोक्ता अर्थात् उस विशेष भाषा को क्षेत्र विशेष में प्रयोग या व्यवहार करने वाला, उसे समझने वाला व्यक्ति जो किसी विशेष शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट अर्थ में करता है। उसके द्वारा तथा उसके समाज द्वारा प्रयोग के मान्य (स्वीकृत) शब्द विशेष उसे स्वीकार्य उक्ति कहते हैं।

आचार्य पाणिनि ने इस नियम का पालन किया है जो कि पूरे आर्यभाषा परिवार पर प्रयोग किया जा सकता है। समाज द्वारा स्वीकृत पदों को व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी में निर्दिष्ट किया गया है जबकि रूपात्मक व्याकरण का प्रारम्भ यास्क कृत निरुक्त में दिखलायी पड़ता है। जहाँ उन्होंने चार पदों–नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को निर्धारित किया है।

रूपात्मक व्याकरण आधुनिक भाषाशास्त्र की देन है यह रूपविज्ञान की एक उपशाखा है। इस शाखा पर काम 1950 ई0 के लगभग शुरू हुआ। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के समय यह भांका हुआ कि किसी भाषा विशेष में कहाँ से शब्द ग्रहण किए गए और किस अर्थ में इसका प्रयोग होना चाहिए। जैसे टेक भाब्द हिन्दी में प्रयुक्त होने वाला शब्द है जो बहुत दोनों से प्रयुक्त हो रहा है इसका अर्थ है ग्रहण करना, सहारा लेना। जब इसकी व्युत्पत्ति खोजी गई तो पता चला कि यह शब्द अंग्रजी का है– Take जिसका अर्थ है ग्रहण करना। अब समाज इसको स्वीकार कर लिया है। अतः यह अब हिन्दी का शब्द माना जाने लगा है।

रूपात्मक व्याकरण में व्याकरण द्वारा स्वीकार्य पदों के समूह से निर्मित वाक्यों का भी अध्ययन किया जाता है ये वाक्य असंख्येय हो सकते हैं, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि व्याकरण वाक्य का निर्माण करे और उसे ही प्रयुक्त किया जाए। यह अवश्य है कि व्याकरण वाक्यों का संस्कार करता है।

एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्याकरण के परिक्षेत्र में कितनी मात्रा में और किस प्रकार की स्वीकार्यता का समावेश होता है? कितनी मात्रा में उसका निर्धारण भाषाशास्त्र के अन्य अंगों द्वारा, अथवा भाषाविज्ञानेतर शास्त्रों द्वारा किया जाना संभव है? यह तो स्पष्ट है कि उक्तियाँ विविध प्रकार और मात्रा में स्वीकार्य या अस्वीकार्य हो सकती है। उदाहरणार्थ हम किसी विदेशी की अंग्रेजी के बारे में कह सकते हैं कि यद्यपि व्याकरण कि दृष्टि से उसकी भाषा स्वीकार्य अथवा शुद्ध है किन्तु उसका उच्चारण अशुद्ध या त्रुटिपूर्ण है, जो उसके अदेशीय वक्ता होने की स्पष्ट घोषणा कर देता है। यह नियम संस्कृत, हिन्दी, तमिल आदि भाषाओं के शब्दों–पदों–रूपों पर लागू होता है। हम कुछ वाक्यों के विषय में यह भी कह सकते हैं कि वे 'व्याकरणसम्मत' तो हैं, किन्तु निरर्थक भी हैं। सार्थक होते हुए भी अनेक उक्तियाँ ऐसी हो सकती हैं, जिन्हें कुछ लोग विशेष परिस्थितियों में निन्दनीय या अशोभनीय मान सकते हैं, यथा–देवानां प्रियम्। यह वाक्य सही है पर अशोक सम्राट् के विषय में अशोभनीय है। इस प्रकार की स्थिति को सामाजिक स्वीकार्यता कहा जा सकता है।

प्रत्येक भाषा का अपना एक निश्चित ध्वनि प्रक्रियात्मक ढाँचा होता है चाहे वे भाषाएँ एक ही परिवार की क्यों न हो। किन्तु ध्वनि में समानता देखी जा सकती है, जिसका वर्णन हम उसके वर्ण, वर्णकल्प या अन्य ध्वनि प्रक्रियात्मक इकाइयों के विन्यास या उसके सम्भाव्य संघात के द्वारा कर पाते हैं। कभी–कभी यह देखने को मिलता है कि एक से अधिक भाषाओं में एक ही शब्द का प्रयोग होता है लेकिन उसका अर्भ भिन्न हो सकता है ऐसे शब्दों (पदों) का स्वरादि से जनित अस्वीकार्यता का विवेचन ध्वनि विज्ञान के आधार पर किया जा सकता है। हम यही सोचते हैं कि वाक्य शब्दों से मिलकर बनते हैं और शब्द ध्वनिप्रक्रियात्मक इकाइयों से।

परम्परागत व्याकरण में पदभेदों– नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, विशेषण आदि को प्रत्यक्षतः धारणात्मक शब्दों में व्याख्यायित किया जा सकता है यथा– नाम किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान या पदार्थ की संज्ञा को कहते हैं जो कि संज्ञा पद अर्थात् किसी के नाम से जाना जाता है। आख्यात पद किसी धातु, Root या कार्य करने की स्थिति को कहते हैं। जिसे क्रिया पद कहा जाता है। उपसर्ग, किसी नाम पद या संज्ञा पद के साथ प्रयुक्त होते हैं आज इनका स्वतः प्रयोग नहीं दिखता है। किन्तु प्राचीन काल में इनका भी स्वतः प्रयोग संज्ञा पद जैसा होता था। निपात, वे पद हैं जो प्रयोक्ता या लेखक के द्वारा सामान्जस्यपूर्ण स्थिति में वाक्य के अन्दर प्रयुक्त होते हैं आज इनका प्रयोग अव्यय की तरह

होता है। विशेषण पद किसी नाम या क्रिया की विशेषता को व्यक्त करते हैं ये नाम पद जैसे ही होते हैं।

रूपों या पदों के पदार्थ और आकार में विद्यमान वैषम्य के सहारे कुछ वैयाकरणों ने मुख्य और गौण पदभेदों में भी विभेद करने का प्रयास किया है। जैसे आचार्य यास्क ने नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को पद भेद माना है जबकि पाणिनि ने नाम और आख्यात को मुख्य माना और उपसर्ग तथा निपात को अव्यय की श्रेणी में माना है। उन्होंने अव्यय पद की उपसर्ग, निपात, गति आदि संज्ञाएँ किया है। पाणिनि को आदर्श मानते हुए परवर्ती आचार्यों ने केवल संज्ञा और क्रिया पद को ही मुख्य माना। हिन्दी के विद्वानों ने उपसर्ग और निपात को पद की श्रेणी में गणना नहीं किए हैं। उन्होंने नाम (संज्ञा), आख्यात (क्रिया), विशेषण और अव्यय को मुख्य पद की श्रेणी में माना है। उनका मानना है कि इन चार पदों के द्वारा ही उन विचारों के विषयों को संकेतित करते हैं जो वक्ता के द्वारा व्यक्त किया जाता है। उनका यह भी मानना है कि संकेतन की यह सामर्थ्य अन्य पदभेदों में नहीं है, वरन् वे वाक्य के समग्र अर्थ में योगदान देते हैं या वाक्य का निश्चित आकार देने में योगदान करते हैं।

परम्परागत वैयाकरणों ने अपने विमर्श में पदभेदों के सम्बन्ध में दो प्रश्न प्रस्तुत किये हैं। प्रथम प्रश्न उन प्रतिबन्धों का है जिनमें कोई शब्द किसी एक विशिष्ट व्याकरणात्मक श्रेणी से सम्बद्ध होती है। कौन–सा शब्द किस श्रेणी में ग्रहीत होता है? क्रियात्मक रूप में इसका निर्णय सदा ही शब्द वितरण के आधार पर किया जाता रहा है। इस विषय में आधुनिक भाषाशास्त्र ने व्याकरण की सीमा के भीतर ही वितरणात्मक नियम को मान्यता दी है, जिससे परम्परागत वैयाकरण सदा ही व्यावहारिक रूप में परिचालित रहे हैं। पाणिनीय गणपाठ को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध रूपात्मक आधार पर उनका अवयवत्व सिद्ध हो जाने पर, उन्हें दी जाने वाली संज्ञाओं से है। रूपात्मक व्याकरण की दृष्टि से कोई भी नाम एक सा ही महत्त्व रखता है और परम्परागत संज्ञाएँ– नाम, आख्यात आदि किसी भी अन्य सम्भाव्य संज्ञा की अपेक्षा न तो अधिक संतोषजनक होता है न कम।

नाम, आख्यात, विशेषण तथा अन्य व्याकरणात्मक संज्ञाएँ किसी प्रकार के धारणात्मक विनियोग में प्रयुक्त नहीं होती। बल्कि वे वितरणात्मक दृष्टि से उचित व्याकरणात्मक श्रेणियों को सूचित करती हैं जिन्हें यादृच्छिक रूप में अन्य नाम भी दिया जा सकता है।

कोई भी शब्द निश्चित रूप में स्वीकार्य है या अस्वीकार्य है इस विषय में शब्दों के वर्गीकरण और नियमों की प्रणाली को क्रमशः तब तक अधिक बढ़ाया जा सकता है, जब तक यह अधिकतम स्वीकार्य और न्यूनतम अस्वीकार्य वाक्यों के निर्माण में समर्थ न हो जाए। रूपात्मक दृष्टि से

व्याकरणात्मकता का अर्थ केवल उतनी मात्रा तक स्वीकार्यता है जिस तक उसे व्याकरण विशेष के नियमों की परिधि़ में लाया जा सके और भाषा के व्याकरणात्मक अवयवों और शब्दराशि का विशिष्ट श्रेणीकरण किया जा सके। आशय यह है कि शब्द की स्वीकार्यता वास्तव में प्रयोक्ता द्वारा निश्चित होता है क्योंकि प्रयोक्ता ही उस शब्द विशेष के प्रयोग का अर्थ और औचित्य समझता है किन्तु व्याकरण उस शब्द की स्वीकार्यता की पुष्टि करता है। व्याकरण शब्दों का संस्कार भी करता है उसे प्रयोग के योग्य बनाता है। रूपात्मक व्याकरण उस शब्द विशेष का जो व्याकरण द्वारा स्वीकृत या सांस्कारित है जो प्रयोगार्ह है उसकी स्वीकार्यता तथा अस्वीकार्यता का निर्धारण करता है। जैसे एक शब्द को लेकर दिल्ली उच्च न्यायालय में मानहानि के लिए मुकदमा (अभियोग) चला था। जिसका अर्थ न तो प्रयोक्ता जानता था न ही वादी पक्ष के लोग और न तो न्यायाधिकरण को पता था। वह शब्द था ''ठुल्ला''। इस शब्द का प्रयोग जुलाई 2015 में दिल्ली के मुख्यमंत्री श्री अरविन्द केजरीवाल ने किया था। प्रयोक्ता तो प्रयोग कर दिया किन्तु यह शब्द व्याकरण द्वारा संस्कारित नहीं है न ही कहीं शब्दकोश में इसकी Etymology बतायी गयी है। अतः भाषाशास्त्र में रूपात्मक व्याकरण ऐसे शब्दों को अस्वीकार्य करता है।

. उपर्युक्त विमर्श से यह परिणाम निकलता है कि किसी भी भाषा का व्याकरणात्मक ढाँचा अन्ततः अनिर्धार्य ही होता है। ऐसा इसलिए कि शब्द का निर्माण व्याकरण नहीं करता वरन् सामाजिक या जनसमूह शब्द का निर्माण करता है तथा प्रयोग भी। किसी विशिष्ट शब्दों का संघात व्याकरणात्मक है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर केवल उन व्याकरणात्मक नियमों की छाया में दिया जा सकता है, या तो उन्हें व्युत्पन्न करने में सफल होते हैं या असफल। अर्थात् कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति व्याकरण के द्वारा हो पाती है जिसे शब्द व्युत्पत्ति कहते हैं किन्तु कुछ शब्दों की व्युत्पत्ति व्याकरण के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार उन्हें व्याकरणात्मक या अव्याकरणात्मक सिद्ध कर सकते हैं। जो भाब्द रूढ़ होते हैं साथ ही किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, उनकी शब्द व्युत्पत्ति न कर के अर्थ व्युत्पत्ति करनी चाहिए।[6]

इसके विपरीत रचनात्मक व्याकरण का विकास करने वाले शोम्स्की आदि अधिकांश वैयाकरण इस नियम का निषेध करते हैं। उनके अनुसार किसी भी भाषा का व्याकरणात्मक ढाँचा निर्धार्य होता है और प्रतिभा से या प्रत्यक्षतः उसे देशज (उस क्षेत्र विशेष के लोग जहाँ पर वह विशेष भाषा बोली जाती है) लोग पहचानते हैं। इसके उदाहरण के रूप में संस्कृत भाषा का उदाहरण दिया जा सकता है। जिसका व्याकरणात्मक ढाँचा निर्धार्य है किन्तु यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता है। भाषाविदों एवं वक्ताओं के प्रातिभ ज्ञान भी इस मामले में सर्वथा अविश्वसनीय और असंगत सिद्ध होते

हैं। क्योंकि नित नए–नए शब्द अन्य भाषाओं से दूसरी भाषाओं में समाविष्ट हो रहे हैं जिसका अर्थ भी हम नहीं जानते, उसको इस भाषा के व्याकरणिक ढाँचे में नही बाँधा जा सकता है।

किसी भी शब्द या उक्ति की परीक्षा व्याकरण के सभी दृष्टि से करनी चाहिए। जब हम किसी विशिष्ट व्याकरण की दृष्टि से किसी उक्ति को अव्याकरणात्मक बताते हैं तब हम यह नहीं कह सकते कि अन्य दृष्टि से यह अस्वीकार्य नहीं है। शब्दों के कुछ संघातों के विषय में हम उन्हें अस्वीकार्य होते हुए भी व्याकरणात्मक किन्तु अर्थहीन कह सकते हैं। जैसे आज के अनैतिक कार्यों में लगे हुए लोगों को सन्त कह दें। यह शब्द व्याकरणिक है किन्तु ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त करना अर्थहीन और असंगत है। इसके अतिरिक्त शब्द संघात की एक अन्य श्रेणी ऐसी भी हो सकती है, जिन्हें हम अव्याकरणात्मक और अर्थहीन दोनों कह सकते हैं जैसे डित्थ, डवित्थ आदि शब्द। इस स्वीकार्यता के प्रसंग में ही एक छोर पर कुछ ऐसे शब्द संघात भी होते हैं जिनकी स्वीकार्यता–अस्वीकार्यता का उत्तर केवल व्याकरण के द्वारा ही मिलता है। जहाँ भाषा की उत्पत्ति धातुज मानते हैं जबकि दूसरे छोर पर ऐसे भी शब्द समूह होते हैं जिनके विषय में व्याकरणात्मक वर्णन किसी उपयोगिता का नहीं रहता है। जहाँ भाषा की उत्पत्ति धातुज नहीं मानते हैं।

आधुनिक भाषाशास्त्र में रूपात्मक व्याकरण का अध्ययन 1950 ई0 के लगभग शुरू हुआ। Zeling S. Harris ने 1951 में Methods in Structural Linguistics प्रकाशित किया जिसमें Morphological Grammar का अध्ययन प्रस्तुत किया गया। किन्तु भारतीय व्याकरणशास्त्र का भाषाशास्त्र से अभिन्न सम्बन्ध रहा है। आचार्य पाणिनि के व्याकरण में रूपात्मक व्याकारण का विस्तृत सन्दर्भ मिलता है क्योंकि पाणिनि ने जिन पदों को अपनाया है उसकी स्वीकार्यता देशज प्रयोक्ताओं की मान्यता पर आधारित है। यही कारण है संस्कृत व्याकरण लगभग 4000 सूत्रों में भी नहीं बाँधा जा सका। तदन्तर में वार्तिकों की रचना करके देशज प्रयोक्ताओं के शब्दों, नियमों, उक्तियों को समाविष्ट करना पड़ा। किन्तु हजारों वर्षों की सामाजिक स्वीकार्यता होने के कारण पाणिनीय व्याकरण के रूप सम्प्रति निर्धार्य हो गए हैं क्योंकि इसमें थोड़ा सा भी परिवर्तन स्वीकार्य नहीं रहा गया है।

संदर्भ सूची

1. ऋग्वेद – 1.164.45
2. ऋग्वेद – 4.58.3
3. निरुक्त – 1.1
4. अष्टाध्यायी – 1.4.14
5. सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान पृ0 143
6. निरुक्त – 2.1

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आचार्य पाणिनि कृत अष्टाध्यायी – चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, 2013
2. ऋग्वेद – चौखम्बा सुरभारतीय प्रकाशन, वाराणसी
3. निरुक्तम् – डॉ0 मुकुन्द झा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2012
4. भाषा विज्ञान की भूमिका, देवेन्द्र नाथ शर्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, 2013
5. सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान – सत्यकाम वर्मा, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, 1972
6. Introduction To Throretical Linguistics - John Lions, Cambridge University Press, 1968
7. Language - Leonard Bloonfield, M.L.B.D. Delhi, 2012
8. Outlines of Linguistie Analysis, B. Bloch & G.L. Trager Lingristic Society of America, 1942